REVIEW OF RESEARCH
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF) UGC APPROVED JOURNAL NO. 48514 ISSN: 2249-894X
VOLUME - 8 | ISSUE - 4 | JANUARY - 2019

वैश्विक समस्या – अपराध के उन्मूलनार्थ योग की उपादेयता

श्रद्धा सोलंकी
शोध छात्रा, योग शिक्षा विभाग ,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर.

प्रस्तावना :–

विकासशील व्यवस्थाओं के पिछड़ेपन का एक प्रधान कारक सामाजिक व्यवस्था में अपराधिक गतिविधियों की उत्तरोत्तर वृद्धि है अपराध एक प्रकार का अविवेकी व्यवहार है जिसे असामाजिक कार्य की संज्ञा दी जाती है विश्व स्तर पर अपराधिक आकड़ों पर ध्यान दिया जाये तो पाया जायेगा कि इन आंकड़ों की प्रतिशतता में दिनोंदिन वृद्धि ही हुई है। अपराध की कल्पना आवश्यक रूप से सामाजिक व्यवस्था से जुड़ी हुई है। "अपराध" विषयक पुरातन साक्ष्य इस बात को इंगित करते हैं कि यह समाज एवं व्यक्ति विशेष दोनों के लिये अधोगतिक मार्ग निर्धारित करता है। संसार के सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में अपराध की प्रासंगिक व्याख्या प्रचुर मात्रा में मिलती है। वैदिक युग में अपराध की स्थिति उग्र ही थी, चोरों, बटमारों तथा हिंसकों का प्राबल्य था इसीलिये उनसे बचने की अभिलाषा सूक्तों में प्रकट होती रही है। (ऋग्वेद मण्डल–1, अध्याय–8, सूक्त 43.1, 2, 3, 4; मण्डल–2, अध्याय–3, सूक्त 29; मण्डल–3, अध्याय–3, सूक्त 54)[1]

भारतीय दृष्टिकोण इस बात को इंगित करता है कि अपराधशास्त्र की मूल प्रेरणा यहीं से ली गई होगी कि "मनुष्य अपने कर्मों के लिये स्वयं दोषी होता है, वह स्वयं उसका कारक होता है।" अतः वैदिक काल से ही लोगों में अच्छे कर्मों व बुरे कर्मों (पाप व पुण्य) का भेद उत्पन्न हो गया था। पाप पुण्य युक्त कर्म सिर्फ बाहरी नहीं होते, इनकी जड़े मन की भावनायें और संकल्पों में विद्यमान होती हैं, इस बात का स्पष्टीकरण उपनिषदों में व्यक्त होता है। वृहदारण्यक उपनिषद् 4/4/5 में कहा गया है – "मनुष्य कामपात्र है अर्थात् इच्छाओं से बना है जैसी उसकी इच्छायें होती हैं वैसे ही उसके संकल्प होते हैं वैसे ही वह कर्म करता है और जैसा कर्म करता है वैसा ही बन जाता है।"

अतः स्पष्ट है कि मनुष्य का व्यक्तित्व और भविष्य दोनों मनुष्य के विचार और आचरण पर ही निर्भर करता है संभवतः इसीलिये वर्तमान में कारावास की सकल्पना एक "दण्डगृह" न होकर "सुधारगृह" के रूप में परिणित होने लगी है।

अपराध विज्ञान की दृष्टि में स्मृतियों का स्थान बहुत उच्च रहा है। मनुस्मृति में वर्णित है कि "आचार से ही आयु, इच्छानुकूल संतति तथा अक्षय धन प्राप्त होता है तथा आचार ही अलक्षण अर्थात् अनिष्टों का नाश करने वाला होता है इसलिये दुराचारी पुरूष संसार में निंदित सर्वथा दुख के भागी और अल्पायु वाले होते हैं।" (मनुस्मृति, 4–156) किया हुआ आधर्म तत्काल फल नहीं देता किन्तु धीरे–धीरे फलोन्मुख होता हुआ वह कर्ता की जड़ को ही काट डालता है। (मनुस्मृति, 4–172)। दण्ड के महत्व पर भी स्मृतियों में बल दिया गया है, कहा गया है – "दण्ड न देने से, अथवा उससे अनुचित कार्य करने से ब्राह्मण आदि के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरूषार्थ के साधनभूत शास्त्रानन्तर हो जाते है तथा संसार में दुष्ट प्रवृत्तियों का प्रकोप बढ़ जाता है। (मनुस्मृति, 7–24) एवं प्रायश्चितों द्वारा पापनाश निर्दिष्ट होता है (मनुस्मृति,

11–144)। अर्थात् उस समय भी दण्ड का प्रावधान शान्ति की स्थापना के लिये था।[2]

प्राचीन भारतीय विधान में पाप व अपराध के संबंध में जो विवेचना प्राप्त होती है वह धार्मिक, नैतिक व न्याय संगत है। इन तीनों सम्मिश्रण से ही सामाजिक व्यवस्था चलाई जा सकती है। भारतीय दर्शन में धर्म सर्वोपरि रहा है। स्पष्टतः यह शब्द "धृ" धातु से बना है जिसका तात्पर्य है "धारण करना", पालन करना, आलम्बन करना। यथा ऋग्वेद, 4–53–2, 5–53–7, 6–70–9, 7–89–5 आदि स्थानों पर धर्म का अर्थ "निश्चित नियम" (व्यवस्था या सिद्धान्त) या "आचरण नियम" है। यहाँ पर धर्म शब्द किसी सम्प्रदाय या मत का द्योतक नहीं है बल्कि जीवन का एक ढंग या आचरण संहिता है, जो समाज के किसी अंग एवं व्यक्ति के रूप में मनुष्य के कर्मों एवं कृत्यों को व्यवस्थापित करता है।

कालान्तर में एक समय ऐसा भी आया जब "अग्निपरीक्षा" को अपराधी की दोषसिद्धि निर्धारित करने का साधन माना जाने लगा। इस समय दण्ड व्यवस्था का लक्षण इस प्रकार था कि व्यक्ति (अपराधी), अपराध के लिये दोषी है अथवा निर्दोष, यह जानने के लिये उसे अग्निपरीक्षा से गुजरना पड़ता था जो मूलतः अंधविश्वास पर आधारित था। याज्ञवल्क्य ने पाँच प्रकार की अग्निपरीक्षाओं का उल्लेख किया है (तुलन (Balance), अग्नि, जल, विष तथा कोष) समय के साथ मानव की तर्कशक्ति में विकास हुआ और अग्निपरीक्षा की प्रथा लुप्त होती गई, परिणामस्वरूप शनैः शनैः अपराधियों को दंडित करने का दायित्व शासक ने स्वयं अपने ऊपर ले लिया, तत्पश्चात् अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में प्रगतिवादी विचारधारा के कारण वैज्ञानिक पद्धति से चिंतन करने की परिपाटी प्रारंभ हुई और पुनः इस धारणा की सिद्धि हुई कि अपराध कृत्य के लिये अपराधी स्वयं ही कारणीभूत होता है। परिणाम यह हुआ कि अपराध का संबंध सामाजिक नीति एवं सामाजिक घटना से स्थापित किया जाने लगा। बीसवीं व इक्कीसवीं शताब्दी में सामाजिक ढांचे में आमूल परिवर्तन आये। अपराधों में निरंतर वृद्धि होने के कारणों में आधुनिकीकरण, औद्योगिकीकरण, विज्ञान व तकनीकि ज्ञान में वृद्धि, सभ्यता का विकास तथा बढ़ती हुई भौतिकवादी प्रवृत्ति विशेष उल्लेखनीय है। जहाँ मनुष्य सुख भोग, विलास, ऐश्वर्य की लालसा से इतना ग्रसित होते जा रहा है कि उनका सद्विवेक एवं आम संयम प्रभावित होते जा रहा है। परिणाम यह है कि मनुष्य नियंत्रित, नैतिक तथा सदाचरण युक्त जीवन जीने में स्वयं को असमर्थ पाता है और जब वह अपनी लालसाएं, इच्छाएं वैध तरीके से पूरा करने में असमर्थ रहता है तो अवैध तरीकों का सहारा लेता है।

अपराध विषयक संपूर्ण ऐतिहासिक विश्लेषण करने के उपरांत स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक संरचना के परिवर्तन के साथ अपराध व दण्ड के स्वरूप में भले ही परिवर्तन आये हों परन्तु यह धारणा पूर्णतः प्रस्तुत होती है कि *"जैसी मति वैसी गति"* अर्थात्–अपराधियों के अनुचित कर्म जो बाहरी रूप में अभिव्यक्ति देते हैं उनकी जड़े मन की भावनाओं, विचारों का प्रक्षेपण होता है इसलिये अपराध का कारण अन्य न होकर वह व्यक्ति स्वयं बन जाता है और व्यक्ति (अपराधी) स्वयं अपने कर्मों का कर्ता व भोक्ता बन जाता है। भारतीय संदर्भ में संस्कार बहुत ही प्रचलित शब्द है, तंत्रवार्तिक के अनुसार "योग्यतां चाद धानाः क्रिया संस्कारा इत्युच्यन्ते" अर्थात् संस्कार वे क्रियायें अथवा रीतियां है जो योग्यता प्रदान करती है। यह योग्यता को दो प्रकार से समझा जा सकता है – पाप मोचन से उत्पन्न योग्यता तथा नवीन गुणों से उत्पन्न योग्यता, क्योंकि तप से पशपों या दोषों का मार्जन होता है और संस्कारों से नवीन गुणों की प्राप्ति होती है।[3] भारतीय संस्कार की यह धारणा न केवल भारतीय जीवन व चिंतन की मूल प्रेरणा है बल्कि इसमें आपराधिकता के परिमार्जन तथा निराकरण की संभावनायें भी अदृश्य रूप से विद्यमान हैं। वर्तमान में आवश्यकता इस दण्डगृह अर्थात् सुधारगृह को नामानुरूप कार्य में परिणित करने की है। *अपराध* आदिकाल से समाज से जुड़ा हुआ कारकतत्व है और *योगविद्या* भी चिरकालीन पद्धति मानी जाती है, जिसमें अपराध भावना से फलीभूत कर्म, कर्मफल से बचने एवं सुधारयुक्त पद्धतियाँ बहुत ही गूढ़ रूप में प्राचीनकाल से ही विद्यमान रही हैं। योगदर्शन में इंद्रियों के निग्रहार्थ जो साधन प्रतिपादित हुये है वे अपराधशास्त्र के लिये उपयोगी हो सकते हैं। वासनाओं के परिमार्जन से मनुष्य की इन्द्रियों का उपद्रव शान्त हो जाता है और तब हिंसात्मक प्रवृत्ति का नाश निश्चित है और जहां हिंसा नहीं होती वहां किसी भी प्रकार का अपराध घटित नहीं हो सकता। *योगदर्शन* का यह सिद्धांत अपराधियों के सुधार के लिये अपराध प्रवृत्ति के उपचार के रूप में सर्वथा चिंतनीय एवं ग्राह्य सिद्ध हो सकता है।[4]

पातंजलयोगसूत्र में वर्णित योग के आठ अंग नैतिक अनुशासन, शारीरिक अनुशासन व मानसिक अनुशासन के साधन हैं। इसमें प्रथम दो अंग यम, नियम व्यक्ति के व्यवहारों को नैतिक दृष्टि से अनुशासित करते हैं चाहे वे बाह्य संसार के साथ हों अथवा स्वयं के प्रति हों।[5] के. दामोदरन के अनुसार इनका उद्देश्य

इंद्रिय एवं चित्त को चंचल बनाने वाली विषय वासना एवं उद्वेगों पर नियंत्रण प्राप्त करना होता है। आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार ये तीनों ही शारीरिक अनुशासन से संबंधित हैं जिनका लक्ष्य मन की स्थिरता प्राप्त करना होता है[6] ताकि मानसिक अनुशासन की ओर पदार्पण किया जा सके।

भगवतगीता में श्रीकृष्ण ने आसुरी प्रकृति के संदर्भ में जो वर्णन किया है वह इस प्रकार है – "आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य कर्त्तव्य में प्रवृत्त होना और अकर्त्तव्य से निवृत्त होना नहीं जानते। उनमें न शौच ही होता है और न सदाचार ही और न ही वे सत्व का पालन करते हैं उनकी बुद्धि मन्द व क्षुद्र हो जाती है और अपने क्रूर कर्मों द्वारा जगत का नाश करने में प्रवृत्त रहते हैं वे सबका अहित करते रहते हैं, परिणाम समाज की हानि एवं अकल्याण होता है।

अपराधियों के कर्म दूषित होते हैं जिससे उनके चरित्र पर भी प्रश्नचिन्ह लगा होता है। मानव का अपने जीवनकाल में जिन शक्तियों के साथ संपर्क स्थापित होता है उन सब में कर्म की शक्ति अधिक प्रबल होती है मनुष्य का हंसना–रोना, सुख–दुख, हर्ष–विषाद, स्तुति निंदा ये सब हमारे मन के ऊपर अनेक घात–प्रतिघातों के फलस्वरूप उत्पन्न होता है और मानव जो कुछ होता है इसी का प्रतिफल होता है। ये घात–प्रतिघात मिलकर कर्म कहलाते है।[7]

दार्शनिक दृष्टि से देखें तो सुख–दुख, आत्मा के सम्मुख होकर उसके ऊपर अनेक प्रकार के चित्र अंकित कर देते हैं और वह जीव अपनी वास्तविक शक्ति को भूल जाता है। चरित्र कर्मों से गठित होता है, यह चरित्र मानसिक प्रवृत्ति व मानसिक झुकाव की समष्टी होता है।[8] अपराधियों के चरित्र को उत्कृष्ट बनाने में योग निश्चित ही उपयोगी साधन है। मानसिक प्रवृत्तियों को उचित दिशा देने के अनेक साधनों में से एक मार्ग *"कर्मयोग"* है। योग में निहित कर्मयोग का विधान कुशलता से अर्थात् वैज्ञानिक प्रणाली से कर्म करना सिखाता है (योगः कर्मसुकौशलम्)। गीता में श्रीकृष्ण *निष्कामकर्म* का आदेश देते हैं, अनाशक्ति युक्त कर्मानुष्ठान का उद्देश्य है मन के भीतर पहले से ही स्थित शक्ति को प्रकट कर देना। जिससे आत्म संयम नामक शक्ति का विकास होता है, फलस्वरूप अपराधियों का चारित्रिक विकास संभव है। प्रत्येक जीवात्मा कर्म करने में स्वाधीन है और उसके फल भोगने में परतंत्र होती है। इस कर्मस्वातन्त्र्यता को निष्काम व संयमयुक्त भाव के साथ जोड़कर अपराध प्रवृत्ति युक्त निष्टकारी शक्ति को सृजनात्मक शक्ति में परिवर्तित किया जा सकता है। कर्मयोग के इस सिद्धांत में अपराधी के सुधारयुक्त दृष्टिकोण की झलक मिलती है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य दार्शनिक विचार यह है कि हमारा मन तर्क–वितर्क, रागद्वेष आदि के जाल में फसकर शनैः–शनैः विनाशकारी, घृणित, पतित व आसुरी अवस्था तक पहुंच जाता है। यही मन इतना सामर्थ्यवान होता है कि इसी शक्ति को केन्द्रित करके दिशांतरित कर जीवन की उत्कृष्टता को प्राप्त किया जा सकता है, इसी संदर्भ में कहा गया है कि –

"तस्मान्मन कारणमति जन्तोर्बन्धस्य मोक्षस्य च वाविधाने" (विवेक चूड़ामणि)

जीव के बन्धन ओर मोक्ष के विधान में मन ही प्रधान कारण है। भारतीय ग्रन्थों में निग्रहित मन की महत्ता को अनेक स्थानों पर विवेचित किया गया है। उदाहरणार्थ जनक के यज्ञ में याज्ञवल्क्य और आश्वलायन के संवाद में याज्ञवल्क्य ने कहा है – मन ही देवता है मन अनन्त है। अतः इस मन से मनुष्य अनंतलोक जीत लेता है प्रश्नोपनिषद् (2/2) में भी मन को देवता कहा है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है– मन ही आत्मा है, मन ही लोक है और मन ही ब्रह्म है, तुम मन की उपासना करो। इस प्रकार मन को समस्त शक्तियों का भण्डारग्रह कहा जा सका है। जो प्रत्येक जीव, चाहे वह अपराधी हो या सामाजिक परिवेश में रहने वाला जनसामान्य, के उत्थान व पतन का कारण बन सकता है। ऋग्वेद में कहा गया है "हे मनुष्य यदि तू मन को स्थिर करने में समर्थ हो जाये तो तू स्वयं ही समस्त बाधाओं और विपत्तियों पर विजय पा सकता है।" अपराधियों के जीवन व व्यवहार के सुधार में भी सबसे बड़ी बाधा उसका स्वयं के मन में उठने वाली निकृष्ट भाव श्रृंखला है जो उसे पतन की ओर ले जाती है। मन की स्थिरता, एकाग्रता व निर्मलता के लिये योग साधना के विविध प्रक्रम हमारे योगशास्त्रों में प्रारंभ से ही निहित हैं। महर्षि पतंजलि ने भी "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" कहकर योग को निग्रहित मन का साधन कहा है और श्रीकृष्ण ने भी इसी बात को "यत्रोपरमते चित्तं निरूद्धं योगसेवया" (भ.गी. 6/20) कहकर प्रस्तुत किया है। हठप्रदीपिका एवं शुक्ल यजुर्वेद जैसे योगिक ग्रन्थों एवं

प्राचीन भारतीय शास्त्रो में मन का सीधा संबंध श्वास–प्रश्वास से बताया गया है जिससे मन को वशवर्ती बनाया जा सकता है इसके अतिरिक्त सतत् अभ्यास व वैराग्य भी मन को वशीभूत करने के साधन हैं। अर्जुन को संबोधित करते हुये श्रीकृष्ण कहते हैं "मनोदुर्निग्रहं चलम् अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। (भ.गी.–6/35) अपराधियों के संदर्भ में अभ्यास का अर्थ उन योग साधनाओं से लिया जा सकता है जो उनके व्यक्तित्व व्यवहार को सुधारने, भाव विचार व कर्म को परिशुद्ध करने में सहायक हो सकती है तथा वैराग्य रूपी बांध द्वारा धीरे–धीरे क्लिष्ट वृत्तियों से राग को खत्म करके अक्लिष्ट वृत्तियों की ओर बढ़ा जा सकता है।

ऊपर वर्णित शास्त्रोक्त व्याख्या यह दर्शाती है कि प्राचीन योगशास्त्रों में बहुत ही सूक्ष्म एवं गहन रूप से जेलों में कैद जीव चेतना जो कि समाष्टिगत चेतना का ही अंश है, की प्रसन्नचित्ता व विवेकपूर्ण व्यवहारात्मकता का माध्यम अंतर्निहित है, योगशास्त्र उनके सुधारात्मक प्रक्रिया में कुछ महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

---

[1] आचार्य आर.एस.ए ऋग्वेद, 1967 पेज स. 98–99

[2] आत्रेय, भारतीय नीति का इतिहास, पेज स. 136–137

[3]कौणे, पी.बी., धर्मशास्त्र का इतिहास, पेज स. 03–04

[4] सिन्हा बी, अपराधिकी, भारतीय अपराध दर्शन, पेज स. 409, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना, 1974

[5] Wood E. Grade System of yoga Published by Rassi J.H. Taraporvala for D.B. Taraporvala sons Co. Pvt. Ltd. Noraji road Bombay Page 37.

[6] Gupta PK., Pantanjal Yog Sutra, A Critical Study in the light of Tatva Vaisharadi and Yog Varttika, Yog Sadhana Ke Sopan, Page No. 189, 1979 Publication Est. Book Linkers Delhi.

[7] विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, कर्म का चरित्र पर प्रभाव, पेज स. 03–11, 1963, प्रका. अद्वैत आश्रम 5 डिही एन्टाली रोड, कलकत्ता

[8] विवेकानंद, विवेकानंद साहित्य, कर्म का चरित्र पर प्रभाव, पेज स. 03–11, 1963, प्रका. अद्वैत आश्रम 5 डिही एन्टाली रोड, कलकत्ता

LBP PUBLICATION